

प्रवासी हिन्दी साहित्य की अपेक्षाएँ

माननीय अध्यक्ष महोदय, मुख्य अतिथि, एवं समस्त गणमान्य जनों,

यह मेरे लिये अति गौरव की बात है कि साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित इस सम्मेलन में मुझे भाग लेने का अवसर मिला और आप जैसे साहित्य मर्मज्ञों की उपस्थिति में अपने विचार प्रकट करने का मौका मिल रहा है। प्रवासी हिन्दी साहित्य की अपेक्षा पर काफी देर तक मनन करने पर दो दृष्टिकोण मेरे जेहन में उभरे। एक तो प्रवासियों की हिन्दी जगत से क्या अपेक्षाएँ हैं। दूसरे, हिन्दी जगत को प्रवासी हिन्दी लेखकों से क्या अपेक्षाएँ हैं। दोनों ही मुझे अर्न्तसम्बन्धित लगे। थोड़ा-थोड़ा दोनों ही सन्दर्भों में अपनी बात कही जा सकती है। हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य, मुस्लिम साहित्य, स्त्री विमर्श, इत्यादि संज्ञाओं से लेखन को चिह्नित किया जाना चलन में आ गया है। इसी कड़ी में प्रवासी हिन्दी साहित्य को भी जोड़ लिया जाये तो विसंगति तो नहीं है मगर लक्षणों के आधार पर साहित्य की यह खेमे बाजी एक सीमा तक ही ठीक लगती है। मेरे विचार से साहित्य को उसकी सम्पूर्ण समग्रता से देखा जाना चाहिए।

जहाँ तक प्रवासियों की हिन्दी जगत से अपेक्षाओं का प्रश्न है तो सबसे पहले मैं यह कहना चाहूँगी कि कोई भी साहित्य भाषा पर निर्भर करता है। भाषा के महत्व को समझे बगैर हम साहित्य का महत्व नहीं समझ सकते। इस सन्दर्भ में अपना एक अविस्मरणीय अनुभव प्रस्तुत करना चाहूँगी। कोपनहेगन, जहाँ मैं पिछले सात सालों से रह रही हूँ, के विश्वविद्यालय के ऐशियन भाषाओं के विभाग में मैंने पाया कि वहाँ चाइनीज विभाग कार्यशील है, साउथ कोरियन, एक छोटा सा देश होने के बावजूद, वह विभाग कार्यशील है। मगर हिन्दी विभाग सुप्त अवस्था में पड़ा है। वह सिर्फ नाम भर के लिये है। मैंने वहाँ के अध्यक्ष, जोकि अमेरिकन थे, से पूछा कि उनके वहाँ हिन्दी विभाग में कुछ काम क्यों नहीं हो रहा। उन्होंने तपाक से जवाब दिया, पहले आप लोग हिन्दी को हिन्दुस्तान में तो महत्व दो तभी उसे बाहर देशों में महत्व मिलेगा। किसी भी भाषा को महत्वशाली सबसे पहले उसे उस क्षेत्र के लोग बनाते हैं जहाँ वह बोली जाती है, फिर वह राष्ट्रीय स्तर पर महत्ता पाती है और फिर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर। बाहर देशों में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने से पहले हमें अपने देश में हिन्दी को गौरवशाली बनाने की आवश्यकता है। अपने ही देश में दक्षिणी भारतीयों से हिन्दी समर्थक बनने की अपेक्षा करने से पहले उत्तरीय भारतीयों को हिन्दी को महत्ता देनी जरूरी है।

हिन्दी को महत्ता देने का तात्पर्य केवल हिन्दी समझना या बोलना ही नहीं, हिन्दी पढ़ना व लिखना भी उतना ही अनिवार्य है। हिन्दी साहित्य की महत्ता के सन्दर्भ में एक आम वाधा यह है कि हमारे देश में लोगों की रीडिंग हेबिट, यानि पढ़ने की आदत नहीं है। लोग अखबार या राजनेतिक पत्रिकाएँ पढ़ने तक ही सीमित रहते हैं। कथा-साहित्य पढ़ने का शौक साहित्यकारों व गिनती के साहित्य अभिरूची से परिपूर्ण पाठकों तक ही सीमित है। हमारे वहाँ आम जनता पढ़ने में उतनी दिलचस्पी नहीं रखती जितनी कि पाश्चात्य देशों में रखती हैं। आकड़ों के अनुसार इंग्लैंड में पाँच सौ से अधिक सप्ताहिक व मासिक पत्रिकाओं का नियमित प्रकाशन होता है। डेनमार्क में भी, जिसकी जनसंख्या दिल्ली

के आधे से भी कम हैं, पत्रिकाओं का प्रकाशन अनुपात में हमारे देश की अपेक्षा कहीं ज्यादा हैं। क्योंकि पढ़ना मात्र एक शौक ही नहीं, एक आदत भी है। इस आदत का विकास बाल्यावस्था में ही हो जाता है। हमारे देश के अधिकतर स्कूलों के पाठ्यक्रम में बच्चों में भाषा व साहित्य के प्रति रुझान उत्पन्न करने की नितान्त कमी है। बच्चे परीक्षाओं में अंक बटोरने के उद्देश्य भर से पढ़ते हैं। उनमें पढ़ने की जिज्ञासा या ललक पैदा नहीं की जाती। पेशे से एक शिक्षिका होने के नाते मैंने यूरोपीय स्कूलों में देखा कि छोटी कक्षाओं से वर्गीय स्तर के हिसाब से पाठ्यक्रमों में लेख, कथा संग्रह व उपन्यास शामिल रहते हैं। उदाहरण के रूप में कक्षा छः के बच्चों को एक सत्र में कम से कम आठ पुस्तकों का अध्ययन, समीक्षा लिखना व उनके ऊपर चर्चा करनी पड़ती है। दसवीं कक्षा तक आते-आते एक विद्यार्थी कथा साहित्य की कम से कम सौ पुस्तकें पढ़ चुका होता है। फलस्वरूप बाल्यकाल से ही उनमें पढ़ने की जिजीविषा जागृत हो जाती है। भाषा व साहित्य उन्हें बोझिल नहीं, रोचक लगने लगता है

जिस तरह अन्य देशों चीन, रूस, हंगरी आदि के लेखक अपनी भाषा में पुस्तकें लिखकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्धी पा चुके हैं, हिन्दी जगत के लेखक वैसी ख्याति नहीं पा सकें। क्या कारण है? जबकि हिन्दी एक सुगठित व्याकरण सम्मत और समृद्ध भाषा की सभी अनिवार्यताओं से परिपूर्ण है। दुनिया में हिन्दी बोलने वालों की संख्या तीसरे नंबर पर है। प्राचीन काल से ही हिन्दी का एक समृद्ध व यशस्वी साहित्य लिखा जा चुका है। मगर फिर भी हिन्दी को वह स्थान नहीं मिल पाया है जिसकी वह अधिकारिणी है।

विदेश जाकर मुझे हिन्दी भाषा व साहित्य की विशेषताओं का पता चला। जब मैंने डेनिश सीखना आरम्भ किया तब मुझे हिन्दी की गरिमा का वस्तुतः पता चला। किसी कथा-साहित्य के जरिये कल्पना, समय बोध, स्थान अनुभूति व भाषा तो उच्चरित होती ही है। इनके अलावा भाव, प्रत्यय, संकल्पना, लेखन शैली, वर्णनात्मक पटुता, शब्द संग्रहों का प्रचुर व कलात्मक उपयोग किसी साहित्य की सार्थकता के लिये अति उपयोगी है। हिन्दी के पास एक विस्तृत शब्दभण्डार ही नहीं, कई उपभाषाओं व शैलियों में भी यह बोली व लिखी जाती है। हिन्दी की बहुमूल्यता के सन्दर्भ में अपना एक अन्य अनुभव बताती हूँ। एक बार हमारी डेनिश कक्षा में कुछ वक्तव्यों का अनुवाद हमें अपनी मातृ भाषाओं में करना था। उस कक्षा में पच्चीस लोग अठारह देशों के थे मगर रोमन लिपि को छोड़ अपनी भाषा की एक विशिष्ट लिपि वाले केवल तीन थे। एक चीनी, एक अरबी व एक मैं देवनागरी लिपि की। डेनिश अध्यापिका चीनी व अरबी लिपि से तो परिचित थी किन्तु देवनागरी लिपि उन्होंने उससे पहले कभी देखी नहीं थी। उन्हें यह लिपि बहुत सुन्दर लगी। उन्होंने अपनी डायरी में अपना नाम मुझसे हिन्दी में लिखवाया। यहाँ मैं यह कहना चाहूँगी कि एक आकर्षित व विशिष्ट लिपि होने के बावजूद हम हिन्दी का व्यावसायिक उपयोग करने से कतराते हैं। दूर से किसी चाइनीज रेस्टोरेंट या दुकान की पहचान उनकी चित्रमय भाषा से की जाती है। चित्रात्मक भाषा चीनी लोगों की पहचान बन चुकी है जिससे विश्व का हर व्यक्ति परिचित है। हमारी देवनागरी भी एक आकर्षक व विशिष्ट लिपि वाली है। क्यों नहीं हम अपनी लिपि को दुनिया भर के लोगों के मध्य अपना पहचान चिह्न बनाये? मेरे विचार से विदेशों में स्थित भारतीय व्यावसायिक केन्द्रों, दुकानों व रेस्टोरेंट के मालिकों को स्थानीय भाषा के अलावा देवनागरी लिपि से अपना बोर्ड बनाना चाहिये।

यह तथ्य एनसाक्लोपीडिया में दर्ज है कि हिन्दी भाषा का उदगम तब हो गया था जब अपने विकासक्रम में मानव ने भाषाओं का सर्जन आरम्भ ही किया था। इंडो-यूरोपियन परिवार से सम्बन्धित

इंग्लिश, जर्मन, गेलिक और संस्कृत विश्व की सबसे पुरातन भाषायें हैं। कालान्तर में लोगों के स्थानीय परिवर्तन से भाषाओं के विभिन्न रूप उभरे — सेल्टिक गुप, ग्रीक, और लेटिन, जर्मनिक और स्लावोनिक भाषायें व हिन्दी भाषा का विकास हुआ। भारतवर्ष विश्व भर के चन्द देशों की श्रेणी में आता है जहाँ के विद्वानों ने न केवल अपनी अलग भाषायें विकसित की बल्कि अपनी अलग व विशिष्ट एक नहीं, कई लिपियों का निर्माण किया। अधिकतर देश तो रोमन लिपि में ही अपनी भाषाओं को लिपिवद्ध करके काम चला रहे हैं। कैसे हम विश्व की एक सबसे पुरानी भाषा की उपेक्षा कर सकते हैं। मेरी समझ से केवल हिन्दुस्तानियों को ही नहीं, विश्व के समस्त लोगों को हिन्दी भाषा एवं साहित्य का सम्मान करना चाहिये।

लेकिन जब इस साहित्य का अध्ययन हमारे देश में ही नहीं होता तो ये अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कैसे पहुँचेगा। इसकी केवल यह वजह तो नहीं मगर एक मूल वजह जरूर है कि हमारे देश में लोगों की पढ़ने की प्रकृति नहीं है। प्रकृति नहीं है तो हिन्दी साहित्य का मार्केट नहीं है। इसकी वजह से भारतीय हिन्दी लेखकों के अतिरिक्त प्रवासी हिन्दी लेखक भी उपेक्षा के शिकार होते हैं।

एक प्रवासी के लिये जिस मुल्क में वह रहता है वहाँ की भाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। हिन्दी अपना कर वह विदेश में आर्थिक अवसर नहीं जुटा सकता, और न ही उस देश के समाज से एकीकरण कर सकता है। अगर वह हिन्दी साहित्य को लेकर कुछ प्रयास करता है तो प्रोत्साहन के लिये सबसे पहले हिंदी भाषी क्षेत्रों की ओर ही देखता है। अपना एक अनुभव प्रस्तुत करना चाहूँगी... तब मैं डेनमार्क गई—गई पहुँची थी। वहाँ के कोपनहेगन इन्टरनेशनल स्कूल में वह मेरा पहला दिन था। एक अध्यापिका ने मुझसे पूछा कि उन्हें सत्यजीत रे की फिल्में कहाँ से मिलेगी। उन्हें सत्यजीत रे की फिल्में बेहद पसन्द थी। मैंने उन्हें जवाब दिया कि भारतीय दूतावास से सम्भवतः मिल जाये। बाद में मैंने सोचा कि उस विदेशी महिला ने सत्यजीत रे की फिल्मों की ही बात क्यों की? सत्यजीत रे ने बंगला में फिल्में बनाई फिर भी अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी फिल्में प्रसिद्ध है। अतीत में रविन्द्र नाथ टैगोर व आज तसलीमा नसरीन जगत विख्यात हो गये हैं। इसकी वजह उनकी अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त यह है कि बंगाल के लोगों ने सबसे पहले उनके कार्य को मान्यता दी है। उनके लेखन के महत्व को स्थापित किया है। यह हम सभी को मालूम है कि बंगाल भारतवर्ष का सांस्कृतिक, शैक्षिक और राजनीतिक जागरूकता में अग्रणी राज्य रहा है। वहाँ के लोग कथा-साहित्य का काफी अध्ययन करते हैं।

दूसरी बात यह है कि हम अंग्रेजी भाषा व साहित्य से दासवता की इस हद तक प्रेम करने लगे हैं कि अपनी मातृ भाषा के प्रति अपनी निष्ठा पर आंच पहुँचा रहे हैं। यह बात सही है कि अंग्रेजी एक बहुमुखी व अन्तरराष्ट्रीय भाषा है। विकास के दौर में लोगों का स्थानान्तर बढ़ जाने से आपसी दुरियां घट रही है। लोग दिन पर दिन अधिक अन्तरराष्ट्रीय हो रहे हैं जिससे अंग्रेजी का उपयोग व महत्व भी बढ़ गया है। गैर अंग्रेजी भाषा देशों में भी अब लोग अधिक से अधिक संख्या में अंग्रेजी सीखने लगे हैं। लेकिन अंग्रेजी उनकी अपनी राष्ट्रीय भाषा के महत्व को कतई प्रभावित नहीं करती। हमारे देश में अंग्रेजी हिन्दी ही नहीं हमारी समस्त क्षेत्रीय भाषाओं को तहस-नहस कर रही है। अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। हिन्दी माध्यम वाले स्कूलों में ज्यादातर केवल उन्हीं के बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं जो अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों का खर्चा वहन नहीं कर पाते। कैसे हम

अपने देश की राष्ट्रीय भाषा का दरोमदार इन गरीबों के कन्धों पर डाल दे ? और यदि आप समाज के मध्य व उच्च वर्गीय लोगों के बच्चों को ले तो उनका पढ़ना अंग्रेजी साहित्य तक ही सीमित है।

बहरहाल जनता उसी ओर रूख करेगी जो उसको अधिक लाभकारी दिखेगी। यह सरकार व साहित्य बुद्धिजीवियों का दायित्व है कि अपनी राष्ट्रीय भाषा के प्रति रूचि जनता के मन में उत्पन्न करें। इसके लिये हिन्दी को व्यवहारिक तौर पर महत्वशाली व उपयोगी बनाना आवश्यक है। यह विडम्बना है कि यद्यपि वेद, उपनिषद जैसे समृद्ध हिन्दी साहित्य की सृष्टि प्राचीन काल से ही होती आयी है, लेकिन हिन्दी व्यवहारिक तौर पर आज भी पूर्णतय विकसित नहीं हो पायी है। विज्ञान, मेडीकल, औद्योगिकी आदि की पढ़ाई हिन्दी में मुश्किल ही क्या असंभव सी प्रतीत होती है। फिर जो कुछ हमारा समृद्ध साहित्य है उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि आम व्यक्तियों की समझ से परे है। आम जनता के लिये अच्छा व रोचक कथा लेखन करने वालों की संख्या बहुत कम हैं। हिन्दी की जो पत्रिकायें साहित्यिक और साहित्येतर प्रतिबद्धताओं का उदघोष करती हुई निकलती हैं, उन्हें एक विशेष वर्ग ही पढ़ता है। इन साहित्यिक पत्रिकाओं का वितरण भी बहुत कम होता है। जनसाधारण इनके नाम तक से परिचित नहीं होते। जो पत्रिकायें वास्तव में जनसाधारण के पास पहुँचती हैं उनमें अच्छे लेखक लिखना नहीं चाहते, लिहाजा अच्छा कथा लेखन जनसाधारण से हमेशा दूर रहता है। किसी साहित्य को केवल साहित्यिक हलके से ही मान्यता मिलना प्रयाप्त नहीं है, जब तक साहित्य लोकजन को आकर्षित न करे सफलता की कसौटी पर पूर्णतय: खरा नहीं उतरता।

तीसरी बात है संपर्क व संचार साधन की। मेरे विचार से भारत व विदेश में हिन्दी साहित्य सर्जन करने वालों के मध्य संपर्क बना रहना चाहिये। विचारों का विनिमय, एक दूसरे की रचनाओं पर टिप्पणी व आलेचना करना संपर्क से ही संभव है। आज का युग इलोकट्रोनिक हो चला है तो हिन्दी को एक इलोकट्रोनिक भाषा बनाने की नितान्त आवश्यकता है। जो कुछ भी हिन्दी का इस्तमाल आज हम कम्प्यूटर पर कर रहे हैं वह इंग्लिस ऑपरेटिंग सिस्टम पर कर रहे हैं। अन्य कई भाषायें जैसे चीनी, कोरियन, अरबी आदि की तरह कम्प्यूटर पर हिन्दी ऑपरेटिंग सिस्टम अभी पूर्णतय विकसित नहीं हो पाया है। इस परिप्रेष्य में अपना अभी बिल्कुल हाल का ही एक अनुभव बताना चाहूंगी। जब मुझे साहित्य अकादमी का इस संगोष्ठि में आने का निमन्त्रण मिला तो मैंने सचिव श्री सच्चिदानंदन जी को अपनी सहमति व अपना जीवन परिचय इत्यादि भेजने के लिये हिन्दी में कम्प्यूटर पर दो पेज टाइप किये। उन्हें इमेल किया। तकनीकी अवरोधों के कारण सच्चिदानंदन जी मेरे उस पत्र को पढ़ ही नहीं पाये। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उन्हें अंग्रेजी में इमेल भेजूं। तदुप्रांत साहित्य अकादमी व मेरे बीच जितने भी पत्र चले सब अंग्रेजी भाषा में चले। क्यों हिन्दी अंग्रेजी की तरह एक हाई टेक भाषा नहीं बन पा रही? सम्भवत माइक्रोसॉफ्ट कल ही हिन्दी का ऑपरेटिंग सिस्टम विकसित कर दे अगर हिन्दी का उपयोग कम्प्यूटरों पर बढ़ जाये। क्या हिन्दी का उपयोग करने वाले नहीं हैं या फिर हिन्दी अपना कर लोगों को कोई लाभ नहीं है? इस पर हम सभी को सोचना होगा।

हिन्दी जगत को प्रवासी हिन्दी लेखकों से अपेक्षाएँ: विश्व भर में हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है जहाँ से काफी बड़ी तादाद में लोग दूसरों देशों में प्रवास करते हैं। यह स्थानान्तरण लगभग चार सौ

वर्ष पुराना है और आज भूमण्डल के विभिन्न देशों में भारतवासी बसे हैं। विदेश जाना अब पहले जैसा दुर्गम भी नहीं रहा। लेकिन विदेश जाना, रहना और वहाँ लेखन करना एक विशिष्टता अवश्य प्रदान करती है। लेखन की विशेषता, राशि, अंश व परिदृष्टियों पर वातावरण का बहुत फर्क पड़ता है। अपने देश से सुदूर विदेश में बैठ कर साहित्य सर्जन में दृष्टि अधिक फैली हुई रहती है। लेखन का स्तर तो कलम की ताकत तय करेगी लेकिन प्रवास में अनुभव का फलक विस्तीर्ण हो जाता है।

प्रवास के अनुभव प्रवासी लेखक के लिये प्राथमिक आँकड़े हैं, जिन्हें वह साहित्य के माध्यम से अपने घर तक पहुँचाता है। वह अपने लोगों के लिये एक खुली खिड़की का कार्य करता है, जहाँ से वह एक दूरस्थ स्थान के सामाजिक, भौगोलिक यथार्थ के साथ-साथ संस्कृति की खुबियों का सहजता से संप्रेषण करता रहता है।

संस्कृतियों को निकट ला समन्वयकारी प्रवृत्तियों को वह प्रोत्साहन दे सकता है। आर्थिक जगत में वैश्वीकरण की धारणा जिस प्रकार फलीभूत हो रही है और विश्व गाँव का स्वप्न देखा जाने लगा है तथा सूचना कान्ति इस स्वप्न को साकार करती दीख भी पड़ रही है, उसी प्रकार से साहित्य जगत में भी विश्व में इस प्रकार का नैकट्य लाया जा सकता है। समन्वय सदा से साहित्य का सर्वोत्कृष्ट गुण रहा है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व भक्ति काल के शिरोमणि गोस्वामी तुलसी दास ने वर्ग-वर्ग में बँटे समाज, सम्प्रदायों और विचारधाराओं का समन्वय करने का युग परिवर्तनकारी कार्य किया था। अपनी इस विशिष्टता के कारण ही रामचरितमानस एक सार्वकालिक और सार्वजीन ग्रन्थ बन गया है। आधुनिक युग में महान घुमक्कड़ और विराट व्यक्तित्व के धनी साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन ने देश विदेश के अगम्य क्षेत्रों का न केवल अन्वेषण किया अपितु गंगा और वोल्गा नदियों पर अपनी दार्शनिक दृष्टि से समन्वयकारी विचारधारा को संपुष्ट किया है। मेरे विचार से प्रवासी हिन्दी साहित्य से जुड़ी सबसे बड़ी अपेक्षा समन्वय की है।

दूसरी अपेक्षा है साहित्य में विविधता प्रदान करना। किसी कथा-साहित्य के जरिये कल्पना, समय बोध, स्थान अनुभूति व भाषा तो उच्चरित होती ही है। इनके अलावा भाव, प्रत्यय, संकल्पना, लेखन शैली, वर्णनात्मक पटुता, शब्द संग्रहों का प्रचुर व कलात्मक उपयोग किसी साहित्य की सार्थकता के लिये अति उपयोगी है। एक भिन्न परिवेश में रहने से प्रवासी लेखक के दृष्टिकोण व लेखन विधि में खासा फर्क आ जाता है। वह न केवल विदेश की उत्कृष्ट रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करके वह साम्रगी हिन्दी साहित्य जगत के लिये सुलभ करा सकता है बल्कि विदेशी भूमि में रह कर अपनी संस्कृति व जातीय मूल्यों का अन्वेषण कर एक नया परिप्रेष्य हिन्दी साहित्य जगत को उपलब्ध करवा सकता है। अपनी राष्ट्रीय साहित्य की संभावनाओं पर मनन करके उसे और व्यापक बना नये आयाम देना किसी प्रवासी लेखक के लिये जटिल व महत्वपूर्ण भी है।

मुझे यह कहते हुये काफी हर्ष हो रहा है कि विदेश में रहने वाले काफी अप्रवासी भारतीय हिन्दी के साहित्यिक प्रचार में संलग्न हैं। हम सभी को मालूम हैं कि जिन मुल्कों में हिन्दुस्तानी संख्या में काफी हैं जैसे ब्रिटेन, अमेरिका, फिजी, मॉरिसस, सूरीनाम आदि, वहाँ आय दिन हिन्दी गोष्ठियाँ, सम्मेलन व हिन्दी साहित्यिक विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है। साहित्य के रचनात्मक अभियान के तहत

अप्रवासियों ने हिन्दी की कई वेबसाइट्स व वेबमेगिज़िन विकसित की हैं। आज कई विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी ही नहीं, बल्कि भारतीय कई क्षेत्रीय भाषाओं का अध्ययन हो रहा है।

काफी कुछ कह दिया है मैंने। आलेख की समाप्ति पर यही कहना चाहूँगी कि एक लेखक की दिली चाहत यह होती है कि उसके साहित्य जगत में उसके लेखन की चर्चा हो। यदि लेखन में कुछ नयापन है तो उसे रेखांकित किया जाये। रचनाओं की समीक्षा हो व उनको पढ़ा जाये। लेखक को लिखने के लिए जिस ऊर्जा की सर्वाधिक आवश्यकता है वह है प्रोत्साहन की। प्रोत्साहन, अर्थात् उसकी रचनाओं की चर्चा। अचर्चित रहना लेखक की सबसे बड़ी पीड़ा है। फिर प्रवासी लेखक अपने देश से दूर अपने साहित्य के लिये तभी कुछ कर पाने की स्थिति में होगा जब उसके देश में उसके लिये कोई स्थान बना हो। यहाँ बहुत नम्रता से यह भी कहना चाहूँगी कि स्थापित साहित्यकारों को अहम् की जटिल गुथी को खोल कर नये लेखकों पर उपयुक्त टिप्पणी करने से परहेज नहीं करना चाहिये। किसी रचना विशेष पर उनकी टिप्पणी नये लेखक को नवीन ऊर्जा से भर देती है जिससे उसका साहित्य सर्जन थमता नहीं। आप सभी को मेरे विचार सुनने के लिये धन्यवाद। साहित्य अकादमी को अपना विशेष आभार प्रकट करती हूँ, मुझे इस सम्मेलन में शामिल करने के लिये। धन्यवाद।

अर्चना पैन्थली

Bryggergade 6, 2, 4

Copenhagen Ø

Denmark

archana@webspeed.dk

1 प्रवासी लेखक को हिंदी जगत से अपेक्षायें

हिंदी साहित्य पढ़ने वालों का अभाव
अंग्रेजी भाषा व साहित्य को अधिक महत्व
संपर्क व संचार साधन

2 हिंदी जगत को प्रवासी हिंदी लेखकों से अपेक्षायें

राजदूत की भौति साहित्य द्वारा लोगों को करीब लाना
समन्वयकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना ।
हिंदी साहित्य को विविधता प्रदान करना
हिंदी को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर महत्ता प्रदान करना

प्रसिद्ध चीनी लेखक — माओ दून, यू हुआ ।

प्रसिद्ध हंगरी लेखक— फ्रांक दरबन्त, इमरि केरटेस

प्रसिद्ध भारतीय लेखक — राकेश मोहन, धर्मवीर, विशुप्रभाकर, विद्या सागर नौटियाल, नरेन्द्र कोहली ।

विदेश जाकर मुझे हिंदी साहित्य की विशेषताओं का पता चला। मैंने जब डेनिश सीखना आरम्भ किया तो हिंदी की गरिमा का वस्तुतः पता तब चला। एक विस्तृत शब्दसंग्रह ही नहीं, कई उपभाषाओं में भी हिंदी बोली व लिखी जाती है। हिंदी की बहुमूल्यता के सन्दर्भ में अपना एक अन्य अनुभव बताती हूँ। एक बार हमारी डेनिश कक्षा में कुछ वक्तव्यों का अनुवाद हमें अपनी मातृ भाषाओं में करना था। उस कक्षा में पच्चीस लोग अठारह देशों के थे मगर रोमन लिपि को छोड़ अपनी भाषा की एक विशिष्ट लिपि वाले केवल तीन थे। एक चाइनीज, एक अराबिक व एक में देवनागरी लिपि की। डेनिश अध्यापिका चाइनीज व अराबिक लिपि से तो परिचित थी किन्तु देवनागरी लिपि उन्होंने उससे पहले कभी देखी नहीं थी। उन्हें यह लिपि बहुत सुन्दर लगी। उन्होंने अपनी डायरी में अपना नाम मुझसे हिन्दी में लिखवाया। यहाँ मैं यह कहना चाहूँगी कि एक आकर्षित व विशिष्ट लिपि होने के बावजूद हम हिन्दी का व्यावसायिक उपयोग करने से कतराते हैं। दूर से किसी चाइनीज रेस्टोरेंट या दुकान की पहचान उनकी चित्रमय भाषा से की जाती है। चित्रात्मक भाषा चीनी लोगों की पहचान बन चुकी है जिससे विश्व का हर व्यक्ति परिचित है। हमारी देवनागरी भी एक आकर्षक व विशिष्ट लिपि वाली है। क्यों नहीं हम अपनी लिपि को दुनिया भर के लोगों के मध्य अपना पहचान चिन्ह बनाये? मेरे विचार से विदेशों में स्थित भारतीय व्यावसायिक केन्द्रों, दुकानों व रेस्टोरेंट के मालिकों को स्थानीय भाषा के अलावा देवनागरी लिपि से अपना बोर्ड बनाना चाहिये।

यह तथ्य एनसाक्लोपीडिया में दर्ज है कि भारतवर्ष विश्व भर के चन्द देशों की श्रेणी में आता है जहाँ के विद्वानों ने न केवल अपनी अलग भाषायें विकसित की बल्कि अपनी अलग व विशिष्ट एक नहीं, कई लिपियों का निर्माण किया। अधिकतर देश तो रोमन लिपि में ही अपनी भाषाओं को

लिपिवद्ध करके काम चला रहे हैं। कैसे हम विश्व की एक सबसे पुरानी भाषा की उपेक्षा कर सकते हैं। मेरी समझ से केवल हिन्दुस्तानियों को ही नहीं, विश्व के समस्त लोगों को हिन्दी भाषा एवं साहित्य का सम्मान करना चाहिये।

आदिकाल, मलिक माहम्मद जयशी के समय से ही हिन्दी का एक सृष्ट व यशस्वी साहित्य लिखा जा चुका है। मगर जैसे हिन्दी भाषा एवं साहित्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं,

लेकिन जैसा कि यहाँ सन्दर्भ प्रवासी हिन्दी साहित्य की चर्चाएँ हैं, जिसके तहत मैं हिन्दी साहित्य को प्रवासी लेखकों से अपेक्षाओं के ऊपर टिप्पणी कर रही हूँ, तो मैं यह कहना चाहती हूँ कि विदेशी भूमि में रह कर अपनी संस्कृति व जातीय मूल्यों का अन्वेषण अपनी भाषा के माध्यम से ही किया जा सकता है। विदेश में बसे भारतीय चाहे कोई भी भाषा बोलने के आदि हो जाये लेकिन जब उनके लिये सांस्कृतिक, साहित्य एवं कला गतिविधियों को दर्शाने का समय आता है तो वहाँ वो अपनी अभिव्यक्ति अपनी मूल भाषा हिन्दी में ही करते हैं।

हम एक छोटे से आँगन की परिधि से हट आकाश की व्यापकता में स्वयं को तलाश करते हुये पाते हैं। दृष्टिकोण में भी खासा परिवर्तन हो जाता है।

प्रवासी हिन्दी साहित्य की अपेक्षाएँ

हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य, मुस्लिम साहित्य, स्त्री विमर्श, इत्यादि संज्ञाओं से लेखन को चिह्नित किया जाना चलन में आ गया है। इसी कड़ी में प्रवासी हिन्दी साहित्य को भी जोड़ लिया जाये तो विसंगति तो नहीं है मगर लक्षणों के आधार पर साहित्य की यह खेमे बाजी एक सीमा तक ही ठीक लगती है। मेरे विचार से साहित्य को उसकी सम्पूर्ण समग्रता से देखा जाना चाहिए।

खैर प्रवासी हिन्दी साहित्य की अपेक्षाएँ के दो परिप्रेष्य उभरते हैं — प्रवासियों की हिन्दी जगत से क्या अपेक्षाएँ हैं या फिर हिन्दी जगत को प्रवासी हिन्दी लेखकों से क्या अपेक्षाएँ हैं। मेरी समझ से दोनों ही परिप्रेष्य एक दूसरे के पूरक हैं। अत थोड़ा-थोड़ा दोनों ही सन्दर्भों में अपनी बात कही जा सकती है।

1. लोगों में पढ़ने की प्रकृति का न होना: जहाँ तक प्रवासियों की हिन्दी जगत से अपेक्षाओं का प्रश्न है तो सबसे पहले मैं अपना एक विस्मरणीय अनुभव प्रस्तुत करना चाहूँगी। कोपनहेगन, जहाँ में पिछले सात सालों से रह रही हूँ, वहाँ के विश्वविद्यालय के ऐशियन भाषाओं के विभाग में मैंने पाया कि वहाँ चाइनीज विभाग कार्यशील है, साउथ कोरियन, एक छोटा सा देश होने के बावजूद, वह कार्यशील है। मगर हिन्दी विभाग सुप्त अवस्था पड़ा है। वह सिर्फ नाम भर के लिये है। मैंने वहाँ के अध्यक्ष, जोकि अमेरिकन थे, से पूछा कि उनके यहाँ हिन्दी विभाग में कुछ काम क्यों नहीं हो रहा है। उन्होंने तपाक से जवाब दिया, पहले आप लोग हिन्दी को हिन्दुस्तान में तो महत्व दो जो उसे बाहर देशों में महत्व मिले। किसी भी भाषा को महत्वशाली सबसे पहले उसे उस क्षेत्र के लोग बनाते हैं जहाँ वह बोली जाती है, फिर वह राष्ट्रीय स्तर पर महत्ता पाती है और फिर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर। बाहर देशों में हिन्दी को महत्वशाली बनाने से पहले हमें अपने देश में हिन्दी को गौरवशाली बनाने की आवश्यकता है। अपने ही देश में गैर हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोगों को हिन्दी सीखने के लिये कहने से पहले हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोगों को अपने क्षेत्र में हिन्दी को महत्ता देनी जरूरी है।

हिन्दी को महत्ता देने का तात्पर्य केवल हिन्दी बोलना ही काफी नहीं है। हिन्दी पढ़ना भी उतना ही अनिवार्य है। हिन्दी की सार्थकता के सन्दर्भ में एक आम बाधा यह है कि हमारे देश में लोगों की

रीडिंग हेबिट, यानि पढ़ने की आदत नहीं है। लोग अखबार या राजनेतिक पत्रिकायें ही पढ़ने तक सीमित रहते हैं। कथा-साहित्य पढ़ने का शौक गिनती के साहित्यकारों व साहित्य अभिरूची से परिपूर्ण पाठकों तक ही सीमित है। आम जनता पढ़ने में उतनी दिलचस्पी नहीं रखती। पढ़ना मात्र एक शौक ही नहीं, वरन एक आदत भी है। इस आदत का विकास बाल्यावस्था से व्यक्ति के भीतर होना चाहिये। हमारे देश के अधिकतर स्कूलों के पाठ्यक्रम में बच्चों में भाषा के प्रति रुझान उत्पन्न करने की नितान्त कमी रहती है। बच्चे बस परिक्षाओं में अंक बटोरने के उद्देश्य भर से पढ़ते हैं। उनमें पढ़ने की जिज्ञासा या ललक पैदा नहीं की जाती है। पेशे से एक शिक्षिका होने के नाते मैंने यूरोपीय स्कूलों में देखा कि छोटी कक्षाओं से बच्चों में वर्गीय स्तर के हिसाब से उनके पाठ्यक्रमों में लेख, व उपन्यास शामिल रहते हैं। उदाहरण के रूप में कक्षा छः के बच्चों को एक सत्र में कम से कम आठ पुस्तकों का अध्ययन, उनका बुक रिव्यू लिखना, उनके ऊपर चर्चा करने पड़ती है। दसवीं कक्षा तक आते-आते एक विद्यार्थी कथा साहित्य की कम से कम सौ पुस्तकें पढ़ चुका होता है। फलस्वरूप बाल्यकाल से ही उनमें पढ़ने की जिजीविषा जाग्रत हो जाती है। भाषा उन्हें नीरस या बोझिल नहीं रौचक लगने लगती है

जिस हिसाब से अन्य देशों के लेखक जैसे चीन, रूस, हंगरी आदि के अपनी भाषा में पुस्तकें लिखकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्धी पा चुके हैं, हिन्दी जगत के लेखक अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर वह ख्याति नहीं पा सके हैं। क्या कारण है? हिन्दी एक बृहत शब्दकोश के साथ एक व्यापक व गरिमामय भाषा है। दुनिया में हिन्दी बोलने वालों की संख्या तीसरे नंबर में है। फिर भी हिन्दी को वह स्थान नहीं मिल पाया है जिसकी वह अधिकारिणी है। इसकी एक अहम वजह यही है कि हमारे देश में लोगों की पढ़ने की प्रकृति नहीं है। प्रकृति नहीं है तो हिन्दी साहित्य का मार्केट नहीं है। इसकी वजह से भारतीय हिन्दी लेखकों के अतिरिक्त प्रवासी हिन्दी लेखक भी उसी सापेक्ष में प्रभावित होते हैं।

एक प्रवासी के लिये जिस मुल्क में वह रहता है वहाँ की भाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। हिन्दी से उसे बस इतना ही अपनत्व रहता है कि यह उसके अपने मूल वतन, या उसकी अपनी मातृ भाषा है। वह हिन्दी भाषा को अपना कर न तो विदेश में कोई रोजगार जुटा सकता है, न ही उस देश के समाज से एकीकरण कर सकता है। अगर वह हिन्दी की दिशा में कुछ प्रयास करता है तो जिस क्षेत्र में वह बोली जाती है, सबसे पहले उसे प्रोत्साहन वही से मिलना चाहिये। अपना एक अन्य अनुभव प्रस्तुत करना चाहूंगी... तब मैं डेनमार्क नई-नई पहुँची थी। वहाँ के कोपनहेगन इन्टरनेशनल स्कूल में वह मेरा पहला दिन था। एक अध्यापिका ने मुझसे कहा कि उन्हें सत्यजीत रे की फिल्में कहीं से मिलेगी। उन्हें सत्यजीत रे की फिल्में बेहद पसन्द हैं। मैंने उन्हें जवाब दिया कि भारतीय दूतावास से सम्भवतः मिल जाये। बाद में मैंने सोचा कि उस विदेशी महिला ने सत्यजीत रे की ही फिल्मों की बात क्यों की? सत्यजीत रे ने बंगला में फिल्में बनाई हैं फिर भी अन्तरराष्ट्रीय समुदाय के लोगों के बीच उनकी फिल्में प्रसिद्ध है। पूर्व में रविन्द्र नाथ टैगोर व आज तसलीमा नसरीन जगत विख्यात हो गये हैं। इसकी वजह उनकी अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त यह है कि बंगाल के लोगों ने सबसे पहले उनके कार्य को मान्यता दी है। उनके लेखन के महत्व को स्थापित किया है। यह हम सभी को मालूम है कि बंगाल भारतवर्ष का सवार्धिक सुसंस्कृत क्षेत्र है। वहाँ के लोग कथा-साहित्य का काफी अध्ययन करते हैं।

2. अंग्रेजी भाषा को अपनी भाषा से अधिक महत्व: मैंने देखा कि कोई विदेशी व्यापारी या इंटरनेशनल फर्म या कंपनी में काम करने वाला कोई अधिकारी यदि अपने देश से चीन जाता है तो वह पहले चीनी भाषा की कुछ क्लासें लेता है। स्पेन जाता है तो स्पेनिस सीखने का अभ्यास करता है। मगर भारत आने से पहले उसे वहाँ की राष्ट्रीय भाषा सीखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि अपने यहाँ वह अंग्रेजी में बखूबी काम चला सकता है। विदेशी भाषा सीखना गलत बात नहीं है। नेहरूजी ने संविधान सभा में अपने भाषण में कहा था "...अंग्रेजी से हमारा बहुत हित साधन हुआ है और उसके द्वारा हमने बहुत कुछ सीखा है तथा उन्नति की है किन्तु किसी विदेशी भाषा से कोई राष्ट्र महान नहीं हो सकता। आखिर क्यों? क्योंकि कोई भी विदेशी भाषा लोगों की भाषा नहीं हो सकती।" और हम अपनी भाषा के मूल्य पर अंग्रेजी भाषा को बढ़ावा दे रहे हैं। यह बात सही है कि अंग्रेजी एक बहुमुखी व अन्तरराष्ट्रीय भाषा है। विकास के समयान्तराल में लोगों का स्थानान्तर बढ़ जाने से आपसी दूरियां घट रही है। लोग दिन पर दिन अधिक अन्तरराष्ट्रीय हो रहे हैं जिससे अंग्रेजी का उपयोग व महत्व भी बढ़ गया है। गैर अंग्रेजी भाषा देशों में भी अब लोग अधिक से अधिक संख्या में अंग्रेजी सीखने लगे हैं। लेकिन अंग्रेजी उनकी अपनी राष्ट्रीय भाषा के महत्व को कतई प्रभावित नहीं करती। हमारे देश में अंग्रेजी हिन्दी ही नहीं हमारी समस्त क्षेत्रीय भाषाओं को तहस-नहस कर रही है। अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। हिन्दी माध्यम वाले स्कूलों में केवल उन्हीं के बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं जो अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों का खर्चा वहन नहीं कर पाते। कैसे हम अपने देश की राष्ट्रीय भाषा का दरोमदार उन गरीबों के बच्चों के कंधों पर डाल दे जो हिन्दी माध्यम वाले स्कूलों में सिर्फ इसलिये पढ़ रहे हैं कि अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों का खर्चा उनके अभिभावक वहन नहीं कर सकते।

बहरहाल जनता उसी दिशा की ओर दौड़ती है जो उसके लिये अधिक लाभकारी सिद्ध होती है। यह सरकार, साहित्य बढिजीवियों का दायित्व है कि अपनी राष्ट्रीय भाषा का महत्व अपनी जनता के मन में उत्पन्न करें। इसके लिये हिन्दी को व्यवहारिक तौर पर महत्वशाली व उपयोगी बनाना आवश्यक हैं। यह विडम्बना है कि वेद, उपनिषद जैसे समृद्ध हिन्दी साहित्य की सृष्टि आदिकाल में ही हो गई थी। लेकिन हिन्दी व्यवहारिक तौर पर आज भी पूर्णतय विकसित नहीं हो पायी है। विज्ञान, मेडीकल, तकनीकी पढ़ाई हिन्दी में मुश्किल ही क्या असंभव सी प्रतीत होती है। फिर जो कुछ हमारा समृद्ध साहित्य है उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि आम व्यक्तियों की समझ से परे है। आम जनता के लिये अच्छा व रौचक कथा लेखन करने वालों की संख्या बहुत कम हैं। हिन्दी की प्रायः ज्यादातर पत्रिकायें साहित्यिक और साहित्येतर प्रतिबद्धताओं का उदघोष करती हुई निकलती हैं, जिन्हें एक विशेष तबका ही पढ़ता है। इन साहित्यिक पत्रिकाओं का वितरण भी बहुत कम होता है। जनसाधारण इनके नामों तक से परिचित नहीं रहते। जो पत्रिकायें वास्तव में जनसाधारण के पास पहुँचती हैं उसमें अच्छे लेखकों द्वारा सामग्री प्रस्तुत नहीं होती, लिहाजा अच्छा कथा लेखन जनसाधारण से हमेशा दूर रहता है।

3. तीसरी बात है...हमारे देश में अन्य देशों की तरह लेंगुअज स्कूलों की स्थापना भी न के बराबर है। एक दक्षिणी भारतीय अगर उत्तर भारत में आता है और हिन्दी में सिद्धता हासिल करना चाहता है तो उसे कहाँ से प्रोत्साहन मिलेगा। इस सन्दर्भ में अपना एक और अनुभव प्रस्तुत करना चाहती हूँ। भारत स्थित डेनिश राजदूतावास की एक कार्यकर्ता जब भारत में चार वर्ष का कार्यकाल बीता कर

डेनमार्क वापस लौटी तो एक समारोह में मेरी उनसे यूं ही मुलाकात हो गई। वह बस हिन्दी के चन्द शब्द नमस्ते, धन्यवाद आदि से ही परिचित थी। मेरे पूछने पर कि उन्होंने चार वर्ष भारत में रह कर क्या हिन्दी सीखने का प्रयास नहीं किया तो वह शिकायती लब्जों में बोली कि इंडिया में विदेशियों को हिन्दी सीखने की कोई सुविधा ही नहीं है जैसे कि उनके अपने मुल्क में विदेशियों के लिये उपलब्ध है। वास्तव में यूरोपीय देशों में विदेशियों को वहाँ की राष्ट्रीय भाषा सीखने को केवल प्रेरित ही नहीं किया जाता बल्कि उन्हें सुविधाएँ भी सहज करवाई जाती हैं। कई देशों में यह सुविधा निःशुल्क है। मसलन मैं डेनमार्क में डेनिश निःशुल्क पढ़ रही हूँ। किताबों, नोटबुक आदि पर भी कोई व्यय नहीं।

4. हिन्दी को इलोट्रोनिक भाषा बनाने की अनिवार्यता: आज के युग की एक अनिवार्य बात यह है कि यह इलोट्रोनिक हो चला है। हिन्दी को एक इलोट्रोनिक भाषा बनाने की नितान्त आवश्यकता है। जो कुछ भी प्रयास इस दिशा में हुये है वे प्रयाप्त नहीं है। जो कुछ भी हिन्दी का इस्तमाल आज हम कम्प्युटर पर कर रहे हैं वह इंग्लिस ऑपरेटिंग सिस्टम पर कर रहे है। चाइनीज व अन्य भाषाओं की तरह कम्प्युटर पर हिन्दी ऑपरेटिंग सिस्टम अभी पूर्णतय विकसित नहीं हो पाया है। इस परिप्रेष्य में अपना अभी बिल्कुल हाल का ही एक अनुभव देती हूँ। जब मुझे साहित्य अकादमी का इस संगोष्ठि में आने का निमन्त्रण मिला तो मैंने सचिव श्री सच्चिदानंदन जी को अपनी सहमति व अपना जीवन परिचय इत्यादि भेजने के लिये हिन्दी में कम्प्युटर पर दो पेज टाइप किये। उन्हें इमेल किया। सच्चिदानंदन जी मेरे उस पत्र को पढ़ ही नहीं पाये। उन्होंने मुझसे अंग्रेजी में अनुरोध किया कि मैं उन्हें अंग्रेजी में इमेल भेजूं। तदुप्रांत साहित्य अकादमी व मेरे बीच जितने भी पत्र चले सब अंग्रेजी भाषा में चले। क्यों नहीं हिन्दी अंग्रेजी की तरह एक हाई टेक भाषा बन पा रही है? कहा जाता है कि बिलगेड कल ही हिन्दी का ऑपरेटिंग सिस्टम विकसित कर दे अगर हिंदी का उपयोग बढ़ जाये। तो हिन्दी का उपयोग करने वाले नहीं हैं या फिर हिन्दी अपना कर लोगों को कोई लाभ नहीं है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है। मैं इन विषयों के मंथन को यहीं छोड़कर अपने दूसरे विषय पर आती हूँ।

हिन्दी जगत को प्रवासी हिन्दी लेखकों से अपेक्षाएँ: जहाँ तक हिन्दी साहित्य जगत को प्रवासी हिन्दी लेखकों से अपेक्षाओं का प्रश्न है तो मैं इसे समन्वित रूप से लेना चाहूँगी। विश्व भर में सम्भवतः हिन्दुस्तान एकमात्र एक ऐसा देश है जहाँ से सबसे बड़ी तादाद में लोग दूसरों देशों में प्रवास करते हैं। यह स्थानान्तरण लगभग चार सौ वर्ष पुराना है और भूमण्डल के विभिन्न देशों में भारतवासी जाकर बसे हुये हैं। विदेश जाना अब पहले जैसा दुर्गम भी नहीं रहा। लेकिन विदेश जाना, रहना और वहाँ लेखन करना एक विशिष्टता अवश्य प्रदान करती है। लेखन की कोटि राशि अंश व परिदृष्यों पर वातावरण का बहुत फर्क पड़ता है। अपने देश से सुदूर विदेश में बैठ कर साहित्य सर्जन में दृष्टि अधिक फैली हुई रहती है। हम एक छोटे से आँगन की परिधि से हट आकाश की व्यापकता में स्वयं को तलाश करते हुये पाते है। लेखन का स्तर तो कलम की ताकत तय करेगी लेकिन प्रवास में अनुभव का फलक विस्तीर्ण हो जाता है। दृष्टिकोण में भी खासा परिवर्तन हो जाता है।

मगर मुख्य बात यह है कि प्रवासी लेखक एक राजदूत की भाँति होता है वह लोगों को निकट लाने का कार्य करता है। प्रवास के अनुभव उसके लिये प्राथमिक आँकड़े हैं, जिन्हें वह साहित्य के माध्यम से अपने घर तक पहुँचाता है। वह अपने लोगों के लिये एक खुली खिड़की का कार्य करता है, जहाँ से वह एक दूरस्थ स्थान के सामाजिक, भौगोलिक यथार्थ के साथ-साथ संस्कृति की खुबियों का सहजता से संप्रेषण करता रहता है।

प्रवासी लेखक विदेश की उत्कृष्ट रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करके वह सामग्री हिन्दी साहित्य जगत के लिये सुलभ करा सकता है। संस्कृतियों को निकट ला समन्वयकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे सकता है। आर्थिक जगत में वैश्वीकरण की धारणा जिस प्रकार फलीभूत हो रही है और विश्व गाँव का स्वप्न देखा जाने लगा है तथा सूचना क्रांति इस स्वप्न को साकार करती दीख भी पड़ रही है। उसी प्रकार से साहित्य जगत में भी विश्व में इस प्रकार का नैकट्य लाया जा सकता है। समन्वय सदा से साहित्य का सर्वोत्कृष्ट गुण रहा है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व भक्ति काल के शिरोमणि गोस्वामी तुलसी दास ने वर्ग-वर्ग में बँटे समाज, सम्प्रदायों और विचारधाराओं का समन्वय करने का युग परिवर्तनकारी कार्य किया था। अपनी इस विशिष्टता के कारण ही रामचरितमानस एक सार्वकालिक और सार्वजीन ग्रन्थ बन गया है। आधुनिक युग में महान घुमक्कड़ और विराट व्यक्तित्व के धनी साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन ने देश विदेश के अगम्य क्षेत्रों का न केवल अन्वेषण किया अपितु गंगा और वोल्गा नदियों पर अपनी दार्शनिक दृष्टि से समन्वयकारी विचारधारा को संपुष्ट किया है। मेरे विचार से प्रवासी हिन्दी साहित्य से जुड़ी सबसे बड़ी अपेक्षा समन्वय की है।

मगर मैं यह भी समझती हूँ कि कथा-साहित्य का परिवेश या विषय चाहे कोई भी हो, उसके जरिये कल्पना का व्यायाम, समय का बोध व स्थान की अनुभूति के अलावा भाषा उच्चरित होनी चाहिये। विभिन्न शब्दसंग्रहों का प्रयोग, शब्दों का सही व कलात्मक उपयोग दृष्टिगोचर होना चाहिये। विदेश जाकर हिन्दी साहित्य एवं भाषा से मेरा लगाव और बढ़ा। मुझे अपनी हिन्दी भाषा की गरिमा का वस्तुतः पता तब चला जब मैंने डेनिश सीखना आरम्भ किया। तब मुझे हिन्दी का शब्दभण्डार अति विस्तृत लगा। इतने प्रयायवाची शब्द हैं हमारी भाषा में। अपनी जननी संस्कृत के अलावा सात से भी अधिक उपभाषाओं में यह बोली जाती है: पहाड़ी, बृज भाषा, खड़ी बोली, भोजपुरी, माड़वारी, अवधी, बुन्देली व मैथिली। इस भाषा की सुन्दरता यह है कि जैसी यह लिखी जाती है उच्चारण भी बिल्कुल वैसा ही होता है। इस भाषा की सार्थकता के सन्दर्भ में अपना एक अनुभव बताती हूँ। जैसा कि मैंने बताया है कि मैं आजकल डेनिश भाषा सीख रही हूँ तो एक बार डेनिश कक्षा में कुछ वक्तव्यों का अनुवाद हमें अपनी मातृ भाषाओं में करना था। उस कक्षा में पच्चीस लोग अठाहरण देशों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे मगर एक रोमन लिपी के अलावा अपनी भाषा की एक विशिष्ट लिपी वाले केवल तीन लोग थे। एक चाइनीज, एक अराबिक व एक मैं देवनागरी लिपि की। डेनिश अध्यापिका चाइनीज व अराबिक लिपि से तो परिचित थी किन्तु देवनागरी लिपि उन्होंने उससे पहले कभी देखी नहीं थी। वो मेरी नोटबुक उठाकर हर्षपूर्ण हिन्दी के अक्षरों को निहारने लगी। उत्सुकता से वह मेरी नोटबुक सभी को दिखाते हुये बोली कि यह लिपि दिखने में कितनी सुन्दर लग रही है। उन्होंने अपनी डायरी में अपना नाम मुझसे हिन्दी में लिखवाया। यहाँ मैं यह कहना चाहूँगी कि एक आकर्षित विशिष्ट लिपि होने के बावजूत हम हिन्दी का उपयोग करने से कतराते हैं। दूर से किसी चाइनीज रेस्टोरेंट या दुकान की

पहचान उनकी चित्रमय भाषा से किया करते हैं। चित्रात्मक भाषा ही चीनी लोगों की पहचान है जिससे विश्व का हर व्यक्ति परिचित है। मुझे बहुत दुख हुआ यह जानकर कि वह डेनिश अध्यापिका देवनागरी लिपि से परिचित तक नहीं थी। मैंने डेनमार्क स्थित जो भारतीय समाजिक व सांस्कृतिक संस्थायें हैं उनके अध्यक्षों से अनुरोध किया कि वहाँ जितने भी भारतीय रेस्टोरेंट व दुकाने स्थापित हैं सबसे ऊपर वो अपनी दुकानों का नाम देवनागरी लिपि में दर्ज करे, जिससे हमारी भाषा लोगों के लिये हमारी पहचान चिन्ह बने।

यह तथ्य विश्व के एनसाइक्लोपीडिया में दर्ज है कि हिन्दी भाषा का विश्व में तब उदगम हो गया था जब अपने विकासक्रम में मानव ने भाषाओं का सर्जन आरम्भ ही किया था। इंडो-यूरोपियन परिवार से सम्बन्धित इंगलिश, जर्मन, गेलिक और संस्कृत विश्व की सबसे पुरातन भाषायें हैं। कालान्तर में लोगों के स्थानीय परिवर्तन से भाषाओं के विभिन्न रूप उभरे — सेल्टिक गुप, ग्रीक, और लेटिन, जर्मनिक और स्लावोनिक भाषायें व हिन्दी भाषा का विकास हुआ। भारतवर्ष विश्व भर के चन्द्र देशों की श्रेणी में आता है जहाँ के विद्वानों ने न केवल अपनी अलग भाषा विकसित की बल्कि अपनी एक अलग व विशिष्ट लिपी का भी निर्माण किया। अधिकतर देश तो रोमन लिपि में ही अपनी भाषाओं को लिपिवद्ध करके काम चला रहे हैं। कैसे हम विश्व की एक सबसे पुरानी भाषा की उपेक्षा कर सकते हैं। मेरी समझ से केवल हिन्दुस्तानियों को ही नहीं, विश्व के समस्त लोगों को हिन्दी भाषा का सम्मान करना चाहिये।

लेकिन जैसा कि यहाँ सन्दर्भ प्रवासी हिन्दी साहित्य की चर्चाएँ हैं, जिसके तहत मैं हिन्दी साहित्य को प्रवासी लेखकों से अपेक्षाओं के ऊपर टिप्पणी कर रही हूँ, तो मैं यह कहना चाहती हूँ कि विदेशी भूमि में रह कर अपनी संस्कृति व जातीय मूल्यों का अन्वेषण अपनी भाषा के माध्यम से ही किया जा सकता है। अपनी मातृ भाषा विदेश में जीवित रख कर एक प्रवासी हिन्दी जगत में ही अपना योगदान नहीं देता वरन अपनी संस्कृति, प्रथाएँ भी संजोये रखता है। मुंबई फिल्म इंडस्ट्री ने हिन्दी को सवार्धिक लोकप्रिय बनाया है। कई गोरे व काले विदेशियों को बॉम्बये रेकर्स बने हिन्दी गीतों को गुनगुना कर दर्शकों का मनोरंजन करते मैंने देखा है। मैंने यह भी पाया कि विदेश में बसे भारतीय चाहे कोई भी भाषा बोलने के आदि हो जाये लेकिन जब उनके लिये सांस्कृतिक, साहित्य एवं कला गतिविधियों को दर्शाने का समय आता है तो वहाँ वो अपनी अभिव्यक्ति अपनी मूल भाषा हिन्दी में ही करते हैं।

हिन्दी को एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा बनाने के लिये प्रवासी भारती निसन्देह अहम प्रयास कर सकते हैं। मुझे यह कहते हुये काफी हर्ष हो रहा है कि विदेश में रहने वाले काफी अप्रवासी भारतीय हिन्दी के साहित्यिक प्रचार में संलग्न है। हम सभी को मालूम है कि जिन मुल्कों में हिन्दुस्तानी संख्या में काफी हैं जैसे ब्रिटेन, अमेरिका, फिजी, मॉरिसस, सूरीनाम आदि में, वहाँ आय दिन हिन्दी गोष्ठियाँ, सम्मेलन व हिन्दी साहित्यिक विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है। साहित्य की समाजिकता का रचनात्मक अभियान के तहत अप्रवासियों ने हिन्दी की कई वेबसाइट्स व वेबमेग्जिन विकसित की हैं। ओसलों से शान्तिदूत, न्यूजीलैंड से भारत दर्शन, ब्रिटेन से उदगम आदि कई पत्रिकाओं का प्रकाशन होता है।

काफी कुछ मैंने कह दिया है। अन्त में यही कहना चाहूँगी कि एक लेखक की अपने साहित्यिक जगत से दिली चाहत यह रहती है कि उसके साहित्य जगत में उसके लेखन की चर्चा हो। यदि लेखन में

कुछ नयापन है तो उसे रेखांकित किया जाये। रचनाओं की समीक्षा हो व उनको पढ़ा जाये। लेखक को लिखने के लिए जिस ऊर्जा की सर्वाधिक आवश्यकता है वह है प्रोत्साहन की। प्रोत्साहन, अर्थात् उसकी रचनाओं की चर्चा। अचर्चित रहना लेखक की सबसे बड़ी पीड़ा है। फिर प्रवासी लेखक अपने देश से दूर अपने साहित्य के लिये तभी कुछ पाने की स्थिति में होगा जब उसके देश में उसके लिये कोई स्थान बना हो। यहाँ बहुत नम्रता से यह भी कहना चाहूँगी कि स्थापित साहित्यकारों को अहम् की जटिल गुथी को खोल कर नये लेखकों पर उपयुक्त टिप्पणी करने से परहेज नहीं करना चाहिये। किसी रचना विशेष पर उनकी टिप्पणी नये लेखक को नवीन ऊर्जा से भर देती है जिससे उसका साहित्य सर्जन थमता नहीं। धन्यवाद।

अर्चना पैन्वूली

Bryggergade 6, 2, 4

Copenhagen Ø

Denmark

archana@webspeed.dk